International Journal of Advance and Applied Research
www.ijaar.co.in
ISSN – 2347-7075 Impact Factor – 8.141
Peer Reviewed Bi-Monthly
Vol. 12 No. 6 July – August 2025

पालि ग्रंथों में वर्णित प्राचीन भारत का सामाजिक जीवन — एक विश्लेषण

प्रो. (डॉ). विजय रजक

प्राचार्य,

राम लखन सिंह यादव कॉलेज औरंगाबाद, (बिहार)

Corresponding Author - प्रो. (डॉ). विजय रजक

DOI - 10.5281/zenodo.20772724

भारत वर्ष के इतिहास में बौद्ध युग का स्थान महत्वपूर्ण है। इस युग में भारतीय विचार-जगत में विशेष उथल-पुथल देखने को मिलती है। सामाजिक एवं धार्मिक नव चेतना के इस युग में बुद्ध तथा महावीर सदृश्य महापुरुषों का इस देश में जन्म हुआ, जिन्होंने सत्य और अहिंसा का वह संदेश दिया जो भव-व्याधि से पीड़ित मानव के लिए वरदान हो गया।

भगवान बुद्ध के संदेश उत्तुंग हिमगिरि तथा उत्ताल जलधि-तरंगों का अतिक्रमण कर अनेक देशों में प्रसारित हुए। बौद्ध मत के व्यापक प्रचार के कारण न केवल बौद्ध दर्शन समृद्ध हुआ, बल्कि पालि साहित्य का भी सृजन एवं संरक्षण हुआ। प्रथम तो बुद्ध-वचनों का स्मृति में संरक्षण हुआ और कालांतर में लिपिबद्ध किया गया।

बौद्ध परंपरा के अनुसार बुद्ध-निर्वाण के तुरंत बाद बुद्ध-वचनों का संगायन हुआ और संकलन किया गया। प्रथम बौद्ध संगीति, जिसकी बैठक राजगृह में हुई, बुद्ध-विचारों का ढेर सारा संग्रहण हुआ। पुनः बुद्ध-निर्वाण के एक शताब्दी पश्चात वैशाली में बौद्ध भिक्षुओं की दूसरी संगीति हुई। दोनों संगीतियों के वाचन के उपरांत तकरीबन पूर्ण रूप से त्रिपिटक के रूप में बुद्ध-वचनों का संगायन हो गया।

बौद्ध पालि पिटक से तत्कालीन समाज का विवरण उपलब्ध होता है। गृह्य सूत्र, धर्मसूत्र, पाणिनि की अष्टाध्यायी, पतंजलि महाभाष्य, कात्यायन के वार्तिक, कौटिल्य अर्थशास्त्र, मनुस्मृति तथा मेगास्थनीज के यात्रा-विवरण से उपलब्ध सामग्री का बुद्धिमत्ता पूर्ण समावेश कर देने से बुद्धकालीन समाज तथा धर्म का विश्वसनीयता तथा सर्वांगीण विवरण प्रस्तुत हो जाता है।

इस कार्य के लिए जैन धर्मग्रंथ—आचारांग सूत्र, उवासगदसाओ, औपपातिक सूत्र तथा भगवती सूत्र—का महत्व भी कम नहीं है। इन धर्मशास्त्रों में जिस समाज का चित्रण हुआ है, वह प्रमुख रूप से ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्णों का समाज है। धर्मशास्त्रों में उन धार्मिक तथा सामाजिक आचार-विचारों का उल्लेख किया गया है। जिनके आचरण की उपेक्षा द्विज जातियों द्वारा की जाती रही थी।

इनके विवरणों में समाज के निम्न वर्ग की नितांत उपेक्षा कर दी गयी है। परंतु पालि त्रिपिटक में समाज के सभी वर्गों के सामाजिक तथा धार्मिक उल्लेख मिलते हैं। फिर भी पालि पिटक इस विषय में सर्वथा निष्पक्ष नहीं रहे हैं। ब्राह्मण धर्म की जिन रीति-रिवाजों की आलोचना बौद्धों का ध्येय रहा है, इन बौद्ध ग्रन्थों में इसकी अतिरंजना मिलती है।

वर्ण व्यवस्था और जाति प्रथा :

भारतीय साहित्य में "वर्ण" शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में हुआ है, जो पूर्व वैदिक युग की समाज-रचना के प्रारंभिक स्वरूप को स्पष्ट करता है। उसमें वर्ण का प्रयोग "रंग" अथवा "आलोक" के अर्थ में है, तथा यत्र-तत्र ऐसे वर्गों के लिए भी "वर्ण" का व्यवहार हुआ है, जिनके शरीर की त्वचा श्याम थी अथवा श्वेत। तत्कालीन समाज में दो ही वर्ण थे, एक "आर्य" और दूसरा "अनार्य" या "दास" (अथवा दस्यु)। यह ऋग्वेद की रचना के पूर्व अत्यंत प्रारंभ की सामाजिक व्यवस्था थी, जिसमें त्वचा को ही भेद का आधार माना गया था।

ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर "आर्य" और "दास" की अनेकता और भिन्नता "वर्ण" के रूप में दर्शित की गई है। उनके पारस्परिक संघर्षों की भी चर्चा की गई है, जिसमें दासों के हारने और आर्यों के जीतने का उल्लेख है। तत्कालीन समाज का यह विभाजन वर्गीय और सांस्कृतिक था, जिससे दो विपरीत जनजातियों का स्वरूप विकसित हुआ। वेदों के अनुसार "आर्य" सदाचरण और सद्वृत्तियों का अनुसरण करने वाले थे तथा "दास" दुर्वृत्तियों, अनियमितताओं और अव्यवस्थाओं को उत्पन्न करनेवाले को आर्य बाहर से आये थे। उन्होंने हड़प्पा संस्कृति के निवासियों को पराजित किया और "दास" बनाया। आर्यों तथा यहाँ के मूल निवासियों के रक्त और रंग में अंतर था, भाषा और बोलचाल में अंतर था, आचार-विचार और रहन-सहन में अंतर था। दोनों वर्गों. में जन्मगत, रक्तगत, शरीरगत और संस्कारगत प्रजातीय भेद था। दोनों के कर्म भी अलग-अलग थे। अतः स्पष्ट रूप से "आर्य" और "दास" नामक दो वर्ण समाज में हो गये, जिनका वैदिक युग के प्रारंभिक काल तक पृथक अस्तित्व बराबर बना रहा। वर्ण-व्यवस्था के मूल में यह भी चिंतन था कि विभिन्न वर्ग अपनी-अपनी प्रतिस्पर्धा और विरोध को समाप्त करके निश्चित कार्यों को करते हुए अपने कर्तव्यों का पालन करते। प्रत्येक वर्ग अथवा समूह की निश्चित कार्य-विधि स्थिर हो जाने के कारण उनके आपसी वैमनस्य का कम हो जाना स्वाभाविक था। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा और संघर्ष को रोकने के लिए समाज-चिंतकों और व्यवस्थाकारों ने वर्ण-विभाजन के दर्शन को विकसित किया तथा सभी वर्णों के कर्तव्यों और कर्मों को निर्धारित किया। परिणामस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति अपने वंशगत पैतृक आजीविका का पालन करता था। व्यक्तिगत और सामाजिक दृष्टि से भी यह उत्तम था, क्योंकि इससे व्यक्ति का ही विकास नहीं होता था, बल्कि परिवार और समाज का भी विकास होता था।

भारतीय जाति-व्यवस्था पर जब हम दृष्टिपात करते हैं, तो यह एक विशिष्ट संगठन के रूप में हमारे सामने आती है, जो हिन्दू समाज को अनेक

समूहों में विभक्त करता है। अंग्रेजी में जाति शब्द के लिए "कास्ट" शब्द का व्यवहार किया जाता है। "कास्ट" शब्द पुर्तगाली शब्द "कास्टा" (Casta) से बना है, जिसका अर्थ "नस्ल", "प्रजाति" अथवा "जन्म" बताया जाता है। वस्तुतः इसका आधार जन्मगत व्यवस्था को माना जाता है। जातियों पर आधारित सांस्कृतिक व्यवस्था में ऊँच-नीच की भावना रहने के कारण उसमें श्रेणीबद्धता पाई जाती है। ऊँच-नीच का यह संस्तरण जन्म पर आधारित होने के कारण विभिन्न प्रकार के दुराग्रहों का परिचायक है। जातियों का एक दूसरी जाति का भोजन और पानी ग्रहण करना अथवा न करना, जाति-प्रथा की महत्वपूर्ण विशेषताओं एवं व्यवहारों के अंतर्गत आता है। इस दृष्टि से जातियों में अनेकता और कठोरता विद्यमान है। ऐसी पाँच प्रकार की जातियाँ मानी गई हैं। पाँच समूहों में विभाजित इन जातियों में सर्वप्रथम स्थान ब्राह्मणों का है। दूसरा स्थान उन जातियों का है, जिनके हाथ का भोजन ब्राह्मण ग्रहण कर लेते हैं। तीसरे स्थान पर वे जाति-समूह हैं, जिनके हाथ का भोजन ब्राह्मण ग्रहण नहीं करता। चौथे स्थान पर वे हैं. हाथ का भोजन और पानी ग्रहण करना तो दूर, स्पर्श भी उन्हें अशुद्ध कर सकता है। जाति-प्रथा में भेदभाव, ऊँच-नीच और स्पृष्यांस्पृश्य की भावना से अनेक ऐसे सामाजिक और धार्मिक अवरोध उत्पन्न होते हैं, जिनसे जाति की स्थिति अत्यधिक विकट हो जाती है। एक जाति दूसरी जाति से किसी-न-किसी स्थिति में ऊँची या निम्न होती है। यह ऊँचता और निम्नता उसके सामाजिक और धार्मिक विशेषाधिकारों पर आधारित होती है। बुद्धकालीन भारत में वर्णगत ये सारे विभेद मौजूद थे। जातियों में सबसे अधिक ब्राह्मण जाति को ही सामाजिक और धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त थे, जबकि शूद्र को कोई भी विशेषाधिकार प्राप्त नहीं था।

शूद्र जाति समाज की सर्वाधिक निम्न जाति थी, जो सेवा-कार्य करके अपना जीवन-यापन करती थी। इसमें भी दो वर्ग थे—एक स्पृश्य और दूसरा अस्पृश्य। पहला वर्ग शूद्रों में ऊँचा था और दूसरा वर्ग नीचा। अनेक स्मृतिकारों के अनुसार भी विविध जातियों की उत्पत्ति अंतर्वर्णीय या अस्वर्ण विवाहों से हुई थी। मनु के अनुसार ऐसे विवाहों से उत्पन्न संतान वर्णसंकर कही गई है। सूत्रकारों ने भी संकरत्व का उल्लेख किया है। बौधायन के अनुसार वर्णसंकर से उत्पन्न संतान "वात्य" कही जाती थी। वृहस्पति ने भी अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकार के विवाहों को वर्ण संकरता का कारण माना है। वर्ण संकर जातियों का भी आपस में मिश्रण होने से अनेक संतानों की उत्पत्ति हुई और समाज में जातियों तथा उपजातियों का एक विशाल समुदाय बन गया। वस्तुतः अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों से अनेकानेक जातियों का विकास प्रारंभ हो गया। मिश्रण से बनी जातियाँ आपस में ऊँच-नीच की भावना से ग्रस्त थीं, जबकि वर्णसंकर जातियाँ अस्पृश्य मानी जाती थीं।

विवाह और दाम्पत्य जीवन :

हिन्दू संस्कृति में विवाह का महत्वपूर्ण स्थान है, जिसे एक धार्मिक संस्कार के रूप में ग्रहण

किया गया है। फलस्वरूप विवाह संस्था को उपयोगी और प्रधान संस्था के रूप में निर्मित किया गया। हिन्दू धर्मशास्त्रों में विवाह को धार्मिक संस्कार माना गया है, जिसमें धर्म का स्थान प्रधान है सामाजिकता और वैधानिकता का स्थान अपेक्षाकृत कम है। इसलिए हिन्दू समाज में विवाह मात्र शारीरिक संबंध का प्रयोजन न बनकर संतानोत्पत्ति का धर्मगत आधार बना। यज्ञ, होम, मंत्र-पाठ, देवताओं का आह्वान तथा वेद-मंत्रों के साथ वैवाहिक क्रिया का संपन्न करना हिन्दू विवाह-संस्कार के प्रधान अंग हैं। विवाह. का अभिप्राय एक ऐसी सामाजिक संस्था से है, जो स्त्री और पुरुष को कुछ विशेष नियम और विधि के अंतर्गत यौन संबंध स्थापित करने की अनुज्ञा प्रदान करती है तथा विशेष अधिकारों को मान्यता प्रदान करती है। इस संबंध में पाश्चात्य विद्वानों ने विस्तार से विचार किया है।

बौद्ध युग में विवाह के समय गोत्र-विचार किए जाने के भी उल्लेख मिलते हैं, परंतु एक समय ऐसा था, जब गोत्र का विवाह से कोई संबंध नहीं था। ऋग्वेद में गोत्र शब्द का प्रयोग गोशाला के अर्थ में हुआ है। कालांतर में गोत्र के अर्थ में पर्याप्त परिवर्तन हो गया और गोत्र तथा कुल के अर्थ अभिन्न हो गए। जब कोशल राज प्रसेनजित ने अंगुलीमाल के पिता-माता के संबंध में अपनी जिज्ञासा प्रकट की, तो उसने कहा— "महाराज, मेरे पिता तो गार्ग्यगोत्री थे और माता मैत्रायणी गोत्र की थीं।"

पालि पिटक में कहीं तो गोत्र की भिन्नता नाम से बतलाई गई है और कहीं जाति से, जिससे प्रतीत होता है कि गोत्र शब्द कुल-विशेष की वंश-परंपरा का बोधक बन गया था। ब्राह्मण ग्रंथों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं, जिनसे यह आभास मिलता है कि स्वकुल में विवाह निषिद्ध माने जाने लगा था। पाणिनि की अष्टाध्यायी तथा पतंजलि महाभाष्य में जिस प्रकार विभिन्न गोत्रों के संयुक्त शब्दों के उल्लेख मिलते हैं, उनसे यही प्रतीत होता है कि समाज में सगोत्र विवाह को अमान्य समझा जाने लगा था। जातकों के कुछ उद्धरणों से प्रतीत होता है कि बुद्धकाल में गोत्र तथा विवाह के मज्झिम निकाय के अनुसार यदि कोई पुरुष किसी नारी से प्रेम करता था, तो उसके लिए यह जानना हितकर था कि वह जिस युवती पर प्रेमासक्त है, वह क्षत्रिय है, ब्राह्मणी है, वैश्य है अथवा शूद्र है; वह किस गोत्र की है और उसका नाम क्या है। कच्छप जातक की एक गाथा से भी यही अर्थ झलकता है कि प्रायः अगोत्र विवाह को मान्यता प्राप्त थी। इस विषय में गौतम, बौधायन, आश्वलायन तथा पारस्कर के मौन से ऐसा प्रतीत होता है कि संगोत्र विवाह उस हद तक आमान्य न हो पाया था। बुद्धकाल में बाल-विवाह तथा विधवा-विवाह का प्रचलन नहीं था। लोककथाओं में केवल बाल-विधवाओं के पुनर्विवाह के ही वर्णन नहीं मिलते, वरन् उन विधवाओं के पुनर्विवाह के भी के भी जो संतान थी। प्राचीन भारतीय परिवार के पितृ प्रधान स्वरूप के कारण नारी को परिवार की संपत्ति माना जाता था और संभवतः इसी कारण धर्मशास्त्रकारों के. मत में विधवा को प्रायः अपने मृत पति के परिवार के ही किसी पुरुष को अपना पति स्वीकार करने का हक था। पालि एवं संस्कृत वाङ्मय में समान रूप से पत्नी को पति का अंतरंग मित्र

स्वीकार किया गया है। अपने पति के प्रति प्रगाढ़ अनुरागमयी स्त्री परलोक में भी पति-संयोग की कामना करती थी। पुरुष भी अपनी सहचरित्र स्व पत्नी पर गर्व का अनुभव करता था। "सुजाता" तथा "संबुला" जैसी स्त्रियाँ साध्वी, गुणवती तथा कर्त्तव्यपरायण थीं और उन्होंने अपने दाम्पत्य जीवन में सुख, एकचित्तता तथा अनन्य-भाव का अनुभव किया, ऐसा उल्लेख उपलब्ध होता है।

खान-पान, परिधान एवं आमोद-प्रमोद :

बौद्ध युग में भी दो प्रकार के लोग थे—एक मांसाहारी और दूसरे शाकाहारी। चावल प्रायः सभी लोग खाते थे। पुराना चावल अधिक लोग पसंद करते थे। चावल प्रायः सूप या दाल के साथ खाते थे। मछली और मांस के साथ भी चावल खाने का प्रचलन था। विम्बा देवी का स्वागत सारिपुत्र ने मछली-भात और घी से किया था। दूध-भात को बुद्ध ने स्वयं सर्वोत्तम आहार माना है। यद्यपि निर्धन और साधनहीन जनता का आहार सत्तू था। तत्कालीन समाज में खाने का भी व्यवहार होता था। बौद्ध ग्रन्थों में शुकर-मांस को उत्तम मांस मानते हुए उत्तम क्षत्रिय सामग्री कही गई है। उत्सव अथवा समारोह के समय लोगों को मांस खिलाने के लिए शूकर का वध किया जाता था। प्रायः लोग पक्षियों को मारकर खाते थे। इनमें हंस, कौवा, कबूतर, मयूर, काक और मुर्गे प्रमुख थे। मादक द्रव्यों के प्रति प्रायः लोगों का आकर्षण था। सुरा और मैरेय एक साथ प्रयोग में लाए जाते थे। उनके स्वामी प्रायः सेठ रहा करते थे। उत्सवों और समारोहों के समय लोग प्रायः खुलकर और प्रफुल्लतापूर्वक सुरा पान किया करते थे। कभी-कभी राजा और प्रजा दोनों साथ मिलकर सुरा पान करते थे।

भात के लिए पालि में "भक्त" शब्द मिलता है। पाणिनि ने इसे "ओदन" की भी संज्ञा दी है। जातकों में मांस या मछली के साथ भात का भोजन अधिकांश लोगों का पसंदीदा भोजन था। ऋग्वेद में अग्नि तथा इन्द्र का वर्णन पशु-मांसभक्षी के रूप में उपलब्ध है। यज्ञाग्नि में अश्व, वृषभ, बैल, गाय, भेड़ आदि की आहुति दी जाती थी। उत्तर वैदिक युग में भी मांसाहार के प्रति लोगों की रुचि थी। शतपथ ब्राह्मण के. अनुसार मांस को उन दिनों सर्वोत्तम भोजन माना जाता था। पालि पिटक से विदित होता है कि जैनियों और बौद्धों के अहिंसावाद के प्रचार के कारण जनता के आहार-संबंधी व्यवहार में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था। अहिंसावाद के प्रचारक ही निवेदन करने पर मांस-भक्षण कर लेते थे। पालि निकाय में गोघातक, मेषघातक, अजघातक, शूकरघातक, मृगलुब्धक, शाकुनिक तथा हत्यागृहों के उल्लेख मिलते हैं, जिससे हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि समाज में मांसाहार के व्यापक प्रचार के फलस्वरूप अनेक पेशेवर जातियों का प्रादुर्भाव हुआ, जो पशु-पक्षियों को पकड़ने, मारने तथा मांस-विक्रय के कर्मों द्वारा अपना जीविकोपार्जन करते थे।

यद्यपि जनता की वेश-भूषा सादी थी, परंतु लोग अपने सादे कपड़ों को बड़े आकर्षक ढंग से पहना करते थे। दीदारगंज की यक्षिणी मूर्ति की साड़ी एड़ियों तक पहुँचती है। साड़ी में पटका खोसा हुआ है और एक बटा हुआ दुपट्टा लटक रहा है। भरहुत के

उत्कीर्ण चित्रों से स्त्रियाँ घुटने तक साड़ी पहने दिखती है। भारतीय परिधान में पगड़ी बाँधने की प्रथा काफी प्राचीन है और बुद्धकाल में भी इसका समाज के उच्च वर्ग में विशेष प्रचलन था।

भरहुत के उत्कीर्ण चित्रों में पगड़ियों के बहार देखने को मिलते हैं। तत्कालीन समाज में उत्सवों का भी प्रचलन था। अजातशत्रु के राज्यकाल में कार्त्तिक के अवसर पर राजगृह नगर को देवनगर के रूप में सजाया जाता था। कौमुदी महोत्सव भी मनाने का प्रचलन उस समय था, जो मेले के स्वरूप में मनाया जाता था। पालि निकाय के अनुसार लोग निश्चित तिथि को शालवन में जाते और शाल-पुष्प तोड़कर क्रीड़ाओं द्वारा खुशियाँ मनाते थे। अनेक जातक कथाओं में सुरानक्षत्र नाम का एक उत्सव मनाने का जिक्र मिलता है। उस दिन स्त्री-पुरुष एक साथ मद्य-पान करते और नाचते-गाते थे। काम जातक में कर्षणोत्सव का उल्लेख मिलता है। पालि निकाय के अनुसार यह उत्सव प्रतिवर्ष सोत्साह मनाया जाता था। इस समारोह की प्रमुख विशेषता यह थी कि उस दिन राजा स्वयं हल जोतता था।

दास-प्रथा का स्वरूप :

भारत में दास-प्रथा का प्रचलन पूर्व से है। संभवतः इसका प्रचलन प्रागैतिहासिक काल में ही हो गया था। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के समाज में भी दासों का अस्तित्व था, जो तत्कालीन जीवन में पराधीन होकर निम्न स्तर तक संबद्ध थे।तत्कालीन भवनों को देखने से दासों एवं सेवकों के रहने के स्थान का पता चलता है। घरेलू दासों या सेवकों के अतिरिक्त केंद्रीय अधिकारी भी दासों अथवा भृत्यों को सेवा-कार्य के लिए नियुक्त करते थे। वैदिक समाज में "दासों" के विषय में स्पष्ट और विस्तृत विवरण मिलने प्रारंभ हो जाते हैं। सर्वप्रथम ऋग्वेद से "दासों" के विषय में सूचना मिलती है, जो प्रायः आर्यों के प्रतिस्पर्धी के रूप में वर्णन किये गये।

वास्तव में अनार्यों को दास, दस्यु या असुर कहा जाता था। दास कहे जाने वाले ये अनार्य आर्यों से शारीरिक और सांस्कृतिक दोनों दृष्टियों से भिन्न थे। उनकी भाषा भी आर्यों से भिन्न थी। इसलिए ऋग्वैदिक कालीन अनार्यों को दास, मधुवाहक, अकर्मन्, अदेवयु, अब्रहान, अयज्वन्, अव्रत, अन्यव्रत, देवपीयु, शिश्नदेव, अनासा, कृष्णयोनि, अमन्तु, अमानुष आदि कहा गया है। दास को कृष्णवर्ण भी कहा जाता है। उल्लेख से विदित होता है कि सोमदेव ने कृष्ण वर्ण का हनन किया था। आर्य लोग ने अनार्य "दासों" को "असुरवर्ण" का माना था।

आर्यों की ओर से अनार्यों अथवा दासों को पराजित करने वाले नायक का नाम इन्द्र था, जिसने दस्युओं को मारकर आर्य वर्ग की रक्षा की थी। उसने पुरन्दर के रूप में कृष्णयोनि दासों की सेनाओं का नाश किया था तथा बुद्धभूमि में उनका विनाश करके उनके परों को विनष्ट कर दिया था।

पालि पिटक तथा समकालीन संस्कृत साहित्य से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में दासों के क्रय-विक्रय तथा दान का बहुत महत्व था। राजकुल, धनाढ्य नागरिक परिवार तथा सामान्य ग्रामीण गृहों में समान रूप से दास-दासियाँ रखी

जाती थीं। हमें दास-दासी रखे जाते थे। हमें दास-दासी क्रय-विक्रय के अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं। दास-दासी क्रय-विक्रय के अलावे दास-दासी, दान की जिक्र भी प्राचीन साहित्यों में मिलते हैं।

पालि पिटक, कौटिलीय अर्थशास्त्र तथा मनुस्मृति में अनेक प्रकार के दासों का वर्णन मिलता है, जिनसे भारतीय समाज में इस प्रथा के उद्भव एवं विकास के कारणों का अनुमान लगाया जा सकता है। पालि त्रिपिटक में आठ प्रकार के दासों का उल्लेख मिलता है, जबकि मनुस्मृति में सात तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पाँच प्रकार के दासों का वर्णन है। जातकों में उच्च वर्ण की कन्याओं के साथ कुछ दासों के प्रेम का भी वर्णन मिलता है। दासों को कम्भन्तदास, पेशकदास. रजकदास, नारी दासी, देवदासी, कुम्भदासी, वन्नदासी, वीहिकोटिकदासी इत्यादि संज्ञा से सम्बोधित की जाती थी।

प्राचीन भारतीय समाज विभिन्न समूहों में था, जिनकी अपनी विशिष्टताएँ थीं। यह देश इन्हीं विशेषताओं के कारण विश्व के अन्य समाजों से अलग है। समाज में व्यष्टि और समष्टि की महत्ता बढ़ने पर पारस्परिक आवश्यकताओं का भी महत्व बढ़ा, जिससे परिवार, समुदाय और समाज का उत्थान हुआ। ये आवश्यकताएँ जीवन का मौलिक चिंतन प्रदान करने में आगे जाकर सहायी बनीं। फलतः वस्त्र, शिक्षा, संस्कृति, कला, साहित्य आदि के क्षेत्र में सामाजिक उन्नयन कार्य सम्पन्न हुआ।

सहायक ग्रन्थों की सूची:

1. अंगुत्तर निकाय : सम्पादित— आर० मॉरिस, पी० एस०, लंदन।
2. आचारांग सूत्र : अनुदित— जकोबी (जैन-सूत्र) ऑक्सफोर्ड—1884
3. जातक : सम्पादित— फाउस बोल्ल, हुवनर एण्ड कं० लि०, लंदन-1877-96
4. थेरगाथा : सम्पादित— भगवन एस० के० बम्बई—1937
5. दीघ निकाय : सम्पादित— रीज केविड्स, पी० टी० एस०, लंदन—1876
6. दीप वंश : सम्पादित— अनुदित ओडेनवर्ग—लंदन—1879
7. विनय पिटक : अनुदति— रीज डेविड्स डी० डब्ल्यू० ओल्डेवर्ग।
   हिन्दी—महापंडित राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ।
8. विनय-पिटक : अनुदित— महापंडित राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ—1935
9. विमान वस्थु : महापंडित राहुल सांकृत्यायन—1937
10. ऋग्वेद : सम्पादित— श्रीपाद शर्मा, औधनगर—1940
11. कठोपनिषद : सम्पादित— वसु वी० डी० इलाहाबाद—1911
12. गौतम-धर्मसूत्र : सम्पादित— श्री निवासाचार्य, मैसूर—1917

13. बुद्धकालीन भारत में ऊँच जातियों की स्थिति : एक अध्ययन। डॉ० मुन्द्रिका प्रसाद "नायक"—1999
14. पाणिनि अष्टाध्यायी : अनुदित वसु एस० वी०, पाणिनि ऑफिस, वाराणसी 1891
15. पातंजल महाभाष्य : सम्पादित कीलहॉर्न, बम्बई—1892
16. मनुस्मृति : सम्पादित पाठक गणेश दत्ता, वाराणसी—1948
17. शतपथ ब्राह्मण : सम्पादित वेबर लाइपजिंग—1924
18. आचार्य नरेन्द्र देव : बुद्ध-धर्म दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् 1956
19. उपाध्याय बलदेव : भारतीय दर्शन, वाराणसी—1948
20. ओल्डेन वर्ग : "दी बुद्धा", विलियम्स एण्ड नॉर्ग, लंदन—1882
21. पं० राहुल सांकृत्यायन : बुद्धर्या, सारनाथ—1952
22. मोती चन्द्र : प्राचीन भारतीय वेश-भूषा, प्रयाग, सं०—2007
23. शर्मा राम शरण : मोती लाल बनारसी, दास—1959
24. सिंह मदन : मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली—1967
25. विन्टरनीत : मोतीलाल बनारसी दास, कलकत्ता—1959